भारत के सामने महाभारत

यह लेख गुजरात दंगों के समय लिखा गया था और 'जनसत्ता' में प्रकाशित हुआ था। 'जनसत्ता' की फाइल में यह उपलब्ध होगा। कुछ सामान्य सुधार के साथ इस लेख को फिर से पढ़ना प्रासंगिक है, इस विश्वास के साथ प्रस्तुत है।

अपने `सामाजिक प्रोग्रामिंग' में सत्ता का खेल कौन-कौन-सा गुल खिला सकता है? इसके सामाजिक परिणाम क्या-क्या होंगे? इन सवालों के प्रति संवेदनशील बने रहना नागरिक कर्त्तव्यों के निर्वाह के लिए जरूरी है। अभी गुजरात मसले पर लोकसभा के मत-विभाजन में अपनी जीत के बाद हुलसित सत्ता पक्ष के चेहरे की स्मिति रेखा अपनी मुखाकृति के स्वाभाविक स्थान पर आई भी नहीं थी कि राज्यसभा में उसने विपक्ष के सुर में अपना सुर मिला दिया। स्वाभाविक ही है कि जो लोग गुजरात प्रकरण पर सत्ता की कारगुजारियों से परेशान और दुखी तो थे लेकिन सामाजिक समरसता को लेकर अधिक संवेदनशील और चिंतनशील होने के कारण एक राजनीतिक औजार की तरह इसके इस्तेमाल की प्रवृत्ति को भी हितकर नहीं मान रहे थे उन्होंने संसदीय गतिरोध के इस प्रकार टूटने की संभावना देखते हुए संतोष की नि:श्वास छोड़ी। उन्हें संतोष हुआ कि कम-से-कम (भारत) संघ ने अपनी कुछ तो जिम्मेवारी स्वीकारी! धारा 355 के अंतर्गत हासिल संवैधानिक अधिकार का वाजिब इस्तेमाल करने की बात मानी। लेकिन संतोष की यह नि:श्वास अभी पूरी तरह निकल भी नहीं पाई थी कि उनकी श्वास-गति फिर अटक गई। अभी माननीय प्रधानमंत्री महोदय ने ग्वालियर में प्रेस के साथ बात करते हुए यह साफ कर दिया

कि गुजरात सरकार को धारा 355 के अंतर्गत अलग से कोई औपचारिक मार्ग-दर्शन या दिशा-निर्देश देने की जरूरत नहीं है। गुजरात सरकार संसदीय कार्रवाई से अवगत है और अपनी गतिविधि जारी रख सकती है। यह गुजरात सरकार की `अपनी गतिविधि' ही तो थी जिस पर राज्यसभा में असंतोष की स्थिति थी और जिस असंतोष से सरकार की सहमति भी प्रतिभासित होती हुई प्रतीत हो रही थी। नहीं भूलना चाहिए कि गुजरात की घटना मौजूदा विश्व राजनीति और उसके विकसित किये जा रहे राष्ट्रीय संस्करण से अलग, विच्छिन्न, निरपेक्ष या अपवादात्मक घटना नहीं है। यह घटना विश्व राजनीति और उसके विकसित किये जा रहे राष्ट्रीय संस्करण के स्वार्थों को साधने के लिए विभिन्न आधारों का इस्तेमाल करते हुए जीवन-स्तर से लेकर विचार-स्तर तक पर जनता को तोड़ने और विखंडित करने के प्रयोग की कड़ी है।जो लोग यह प्रयोग कर रहे हैं वे भलीभँति जानते हैं की यह भूल नहीं, प्रयोग है।अभी इस प्रयोग के पहले चरण पर ही काम हो रहा है, इस चरण का पहला अध्याय पूरा होने के कगार पर है।

दूसरा अध्याय अभी शुरू नहीं हुआ है। दूसरे अध्याय को शुरू करने के लिए काम आनेवाले उपकरणों और रसायनों को प्रयोगशाला में सक्रिय किया जा रहा है। इसे अतिकथन नहीं माना जाये, सच यही है कि बुरे दिन अभी टले नहीं है बल्कि कायदे से अभी शुरू भी नहीं हुए हैं। इसे किसी प्रकार की हताशा के गर्भ से जन्मी कायर शंका या सिर्फ वर्त्तमान के दबाव से टूटे किसी संवेदनशील व्यक्ति के मन में सक्रिय दु:स्वप्न भी न समझा जाये।सत्ता के सहोदर जो कर रहे हैं, सज्ञान और सचेत होकर ही कर रहे हैं।ये वो नही हैं, जो नहीं जानते कि वो क्या कर रहे हैं। ये वो `महात्मा' हैं जो अच्छी तरह जानते हैं कि वे क्या कर रहे हैं। वे जानते हैं कि अच्छा क्या है मगर उनकी प्रवृत्ति उसमें नहीं है। वे अच्छी तरह जानते हैं कि बुरा क्या है मगर उससे उनकी निवृत्ति नहीं है। ऐसे लोगों को कृष्ण नहीं शकुनि ही सुहाते हैं। विमर्श

तो ज्ञान को कारगर एवं धारदार और संवेदना को गतिशील एवं सुग्राही बनाने के लिए उपयोगी होता है। जिन लोगों के `सदज्ञान' का पुष्कर पहले से ही लबालब है और जिनके लिए मानवीय संवेदना पत्थरानुराग को समर्पित और उसी से सीमित है उन वागमियों के लिए बहस एवं विमर्श उपयोगी नहीं हो सकते। कभी-कभी अपने `सदाचारों' के अंतरालों को जनतंत्र के नाम पर चलनेवाले विमर्शों से भरने का काम वे जरूर करते रहते हैं। ऐसे में लाक्षागृह की नैतिकता से अन-अवगत रहते हुए जो लोग उसके सौंदर्य और साज-सज्जा से प्रभावित होकर उस में अपने लिए भी थोड़ा-सा स्थान बनाये रखना चाहते हैं, अपना हश्र वे खुद जानें। जनता को तो यह महाभारत लड़े बिना निजात नहीं है। इसलिए जनता को तैयारी तो इस उपस्थित महाभारत के लिए करनी है और रास-भूमि के बाहर के अपने कृष्णों को भी ध्यान से सुनना है। ये कृष्ण सीधे-सीधे युद्ध तो नहीं कर सकते, हाँ इस युद्ध में उनके घायल हौसले को क्षत-विक्षत होने से बचाने में कुछ मददगार जरूर साबित हो सकते हैं।

युद्ध-प्रिय लोग युद्ध को भी एक प्रकार की कला मानकर चलते हैं। ये कलाकार इस युद्ध-कला में छाया-युद्ध का भी महत्त्व जानते हैं और माया-युद्ध का भी। यह छाया-युद्ध और माया-युद्ध असल युद्ध की पीठिका रचते हैं। छाया-युद्ध और माया-युद्ध नैतिकता के सारे गतिमान प्रतिमानों को न केवल ध्वस्त करते हैं बल्कि असल युद्ध को नैतिक विकलता के प्रभावी अवरोधों के सारे संदर्भों से विच्युत और विमुक्त भी करते चलते हैं। अभी भारत के सामने जो महाभारत है उसमें यह छाया-युद्ध और माया-युद्ध बदस्तूर जारी है। छाया-युद्ध अपनों के साथ होता हुआ दिखाया जाता है। इस में योद्धा अपनों के ऊपर वार नहीं करता। अपनों को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचाता। आवश्यक हुआ तो अपनों की छाया से लड़ता हुआ युद्ध का एक आभासी दृश्य प्रस्तुत करता है। बीच-बीच में, इस-उस मुद्दे पर संघ का सत्ता परिवार ऐसा युद्ध करता हुआ प्रतीत होता है। जनता इस युद्ध के एक-एक आभासी दृश्य में अपनी

किन्हीं तात्कालिक समस्याओं से मुक्ति के लिए किये जा रहे प्रयास का पाठ पढ़ने की कोशिश करती है। इस कोशिश में जनता के लगे रहने पर सत्ता-परिवार को जनमन में असहमति से होनेवाले विचलन को समायोजित करने का अवसर बड़ी आसानी से सुलभ हो जाता है। माया-युद्ध में सुविधानुसार शत्रुओं का न सिर्फ निर्माण किया जाता है बल्कि कथित शत्रुओं के प्रतिरूप से युद्ध करते हुए उसे परास्त होता हुआ भी दिखाया जात है, ताकि अपने पक्ष के योद्धाओं में विजय-श्री को नजदीक से देखने के अभ्यास का मनोवृत्त्यानुसारी अवसर हासिल हो सके।

व्यक्ति हो या व्यक्तियों का समूह, दल हो या संस्था उसकी छवि उसके बुनियादी विचार, दीखनेवाले आचार और इनके सहमेल में दिये गये बयानों के सार से बनती है।शत्रुओं के बुनियादी विचार से लड़ना थोड़ा मुश्किल काम होता है क्योंकि वे अधिक विज्ञप्त और ठोस होते हैं।इस बुनियादी विचार के अंतर्विरोधों को खोजना, समझना और संदर्भ से काटकर नये और इच्छित संदर्भ से जोड़ना और मुकाबला करना समयभक्षी होने के साथ ही दु:साध्य भी होता है। उसके आचार से लड़ना भी बहुत आसान काम नहीं होता है, क्योंकि उपस्थित प्रसंग में अपना आचार वह खुद तय करता है।इस आचार की व्याख्या अपनी सुविधा के अनुसार कोई कर तो सकता है लेकिन व्याख्याएँ तो कई हो सकती हैं और होती भी हैं।सब से आसान होता है निरंतर अपना बयान बदलते रहना और अपना ही क्यों जरूरत के अनुसार शत्रु के शब्दों में अपना अर्थ डालकर उसे पीटते चलना। इस प्रकार शत्रु की छवि से दो-दो हाथ के लिए हमेशा प्रस्तुत रहना माया युद्ध का हिस्सा होता है। इस वाक-छल में जनता की सबसे नाजुक चीज भाषा के शब्दों का अर्थ जाता है,अर्थी उठती है। चुपके-चुपके स्वच्छ भाषा की जगह कपट भाषा को खड़ी कर मुख्यमंत्री के अर्थ को राजा के अर्थ से विस्थापित करते हुए राजधर्म के पालन का आदेश नहीं उपदेश दिया जाता है और जनता के अर्थ को प्रजा के आशय से बदल दिया जाता है।

इधर बंगाल जैसे अहिंदी भाषी राज्य में दबी जबान से एक बहुत ही खतरनाक बात धीरे-धीरे जमाने और फैलाने की कोशिश की जा रही है कि हिंदी भाषी लोगों ने गुजरात की हिंसा के खिलाफ खुलकर मुहिम नहीं छेड़ी। विरोध किया भी तो दबे स्वर में। गुजरात की हिंसा का विरोध तो जितना अधिक और जितने ऊँचे स्वर में हो कम ही होगा, लेकिन हिंदी भाषी लोगों के ऊपर लगाये जानेवाले इस तरह के आरोप का भी विरोध उतने ही खुलकर किये जाने की जरूरत है। यहाँ किसी भी तरह से, यह नहीं कहा जा रहा है कि हिंदी भाषी लोगों ने जो विरोध किया वह पर्याप्त था। हकीकत तो यह है कि पूरे भारत और विपक्ष ने गुजरात की हिंसा का जो विरोध किया है वह भी पर्याप्त साबित नहीं हुआ है। आत्मप्रशंसा बुरी चीज है तो बेवजह आत्म-धिक्कार भी कोई अच्छी चीज नहीं है। जाने-अनजाने कुछ हिंदी भाषी बुद्धिजीवी इस आरोप में अंतर्निहित छल को पकड़ने के बजाये इस छल के सामने आत्म-धिक्कार की मुद्रा में चले जाते हैं। इस आरोप में अंतर्निहित छल यह है कि यह आरोप धर्म के नाम पर फैलाई जा रही सांप्रदायिकता और हिंसा के विरोध की समग्रता को भाषायी सांप्रदायिकता के हथियार से खंडित करने का प्रयास करता है। इसके अलावे भाषाभाषी के आधार पर गुजरात की हिंसा के विरोध को परोक्ष-प्रत्यक्ष रूप से आकलित करने का प्रयोजन क्या हो सकता है? जहाँ बहुभाषाभाषी लोग एक साथ रहते हैं वहाँ किसी मुद्दे पर उनका समर्थन और विरोध भी मुद्दावार ही होता है, भाषावार नहीं। अलग-अलग भाषा भाषियों के लिए अलग-अलग खाता खोलना सामाजिक विभाजन की एक और खतरनाक बुनियाद डालने के अपराध जैसा ही है। ध्यान में होना चाहिए कि सांप्रदायिकता की मुख्य रणभूमि हिंदी भाषी क्षेत्र को बना दिया गया है। ऐतिहासिक और भैगोलिक कारणों से, भारतीयता के तंतुबद्धीकरण की नाभिकीयता इसी हिंदी भाषी प्रदेश में बनती है। हिंदी भाषी राज्य के बाहर के हिंदी भाषी लोगों पर इस तरह के आरोप के छल का एक

अतिरिक्त पाठ भी है। इसलिए, `हिंदी भाषी लोगों ने गुजरात की हिंसा के खिलाफ खुलकर मुहिम नहीं छेड़ी' जैसे आरोप के छल को पकड़ना और उसे तोड़ना चाहिए। यह छल भारत के सामने उपस्थित कर दिये गये महाभारत के उसी छाया और माया युद्ध का एक रणकौशल है और इसे इसी रूप में समझना चाहिए।

किसने गुजरात की अस्मिता को ठेस पहुँचाई? किसने कहा कि गुजरात के सभी पाँच करोड़ लोग दंगाई या बलात्कारी हैं? गुजरात के माननीय मुख्यमंत्री नरेंद्र मोदी कह रहे हैं कि जो लोग गुजारत के पाँच करोड़ लोगों को दंगाई और बलात्कारी कह रहे हैं उन्हें ये सौदा बड़ा मँहगा पड़ेगा। अगर किसी ने ऐसा कहा हो तो यह `सौदा' उसे महँगा पड़ना ही चाहिए। किसी ने नहीं कहा! सिर्फ नरेंद्र मोदी कह रहे हैं कि ऐसा कहा। उन पर लोग कितना भरोसा करेंगे इसका पता तो आगे ही चल सकेगा। फिलहाल तो सवाल यह है कि नरेंद्र मोदी ऐसा क्यों कह रहे हैं? मामला बिल्कुल साफ है, ऐसा कहकर वे गुजराती अस्मिता के सवाल को उभारना चाह रहे हैं। गुजराती अस्मिता के सवाल को इसलिए उभार रहे हैं कि वे खुद गुजरात के प्रतीक के रूप में विकसित हो जायें जिससे किसी भी स्तर पर, किसी भी कारण से उनका विरोधी गुजराती अस्मिता का स्वयंसिद्ध विरोधी समझ लिया जाये और किसी तरह चुनाव की नाव पार लगे। राज-योग बना रहे। लेकिन क्षेत्रीय अस्मिता को उभारने की कोशिश करने को सिर्फ चुनाव से ही जोड़कर देखना भी भारी भूल होगी। लोगों के भरोसा करने की सहज मानवीय वृत्ति को जड़ करने, धर्म के आधार पर जनमन में विभाजन की खाई को बढ़ाने एवं भेद-बुद्धि को अधिक सक्रिय कर लेने के पश्चात अब क्षेत्रीय अस्मिता की भावना से जनमन में एक और दरार को गहराने की प्रक्रिया से जोड़कर ही इसके परिप्रेक्ष्य को सही तरीके से समझा जा सकता है। इसके राजनीतिक निहितार्थ को ठीक ढंग से समझा जाये तो जिस काम को अलगाववादी देशी-विदेशी ताकतें हथियारबंद दस्तों और आतंकवादी कार्रवाइयों के बाहरी दबाव

के बल पर नहीं कर सकीं उस काम को वे ताकतें समाज में भीतरी तनाव को बढ़ाकर करना चाहती हैं। इन ताकतों के अंतर्राष्ट्रीय अवरोध तो पहले ही निष्प्रभ हो चुके हैं। प्रतिरोध की राष्ट्रीय एवं सामाजिक ताकत को ऐसे विभाजन से समाप्त किया जा रहा है। अपनी प्रतिरोधी क्षमता खोकर अपने आंतरिक गठन को कोई राष्ट्र बहुत दिन तक कायम नहीं रख सकता है। आंतरिक प्रतिरोधी क्षमता के चुकते ही राष्ट्र की स्वाभाविक तंतुबद्धता में विखराव आने लगता है। भरोसे की बात इतनी ही है कि भारत का देशी राष्ट्रभाव सुगुंफित है। राजनीतिक ढाँचों एवं शासक समूहों में होनेवाले परिवर्तन की प्रक्रिया में अपनों और परायों के गहरे आघातों को झेलने का इसे ऐतिहासिक अनुभव है। इस तरह के किसी भी प्रयास के सामने यह वैसा ही भुरभुरा साबित नहीं होगा जैसा दुनिया के कुछ देश हाल के दिनों में हुए हैं। लेकिन, जब युद्ध सामने हो तो किसी भी प्रकार की अप्रस्तुति बहुत मँहगी साबित हो सकती है, इसे हमेशा याद रखने के महत्त्व को नये परिप्रेक्ष्य में समझना होगा। यह नया परिप्रेक्ष्य बनता है व्यापक स्तर पर मनुष्य के स्थानीय/ क्षेत्रीयकरण और आवारा वित्तीय पूँजी के वैश्वीकरण की नव-उपनिवेशवादी आकांक्षा से। हमारे शासक बने जन-सेवक असल में नव-उपनिवेशवाद की इसी दोहरी आकांक्षा के स्वयंसेवक हैं। असली लड़ाई तो देर-सबेर नव-उपनिवेशवाद की इस दोहरी आकांक्षा के स्वयंसेवकों से ही है। यही महाभारत भारत के सामने है।